भारतीय जीवन का मूल मंत्र : पुरुषार्थ

प्रो. श्रीकांत सिंह

पुरुषार्थ की अवधारणा हिंदू धर्म की सर्वमान्य अवधारणा है। इसी के आधार पर जगत की सोद्देश्यता, ब्रह्माण्ड की व्यवस्था, मानव जीवन के लक्ष्य एवं आदर्श आदि की व्याख्या एवं स्थापना की जाती है। पुरुषार्थ की साधना में ही मानव का गौरव निहित है। इस चराचर सृष्टि में जहाँ अन्य प्राणी सृष्टि चक्र अथवा संसार चक्र में अपने कर्मभोग मात्र से नियंत्रित हैं, वहाँ मानव कर्म भोग के साथ-साथ स्वतंत्र संकल्प वाला भी है क्योंकि पुरुषार्थ की सार्थकता उसके संकल्प स्वातंत्र्य पर निर्भर है।

मानव जीवन के चरम लक्ष्य प्राप्ति का नाम ही पुरुषार्थ है। यह उस सार्थक जीवन शक्ति का द्योतक है जो व्यक्ति को सांसारिक सुख भोग के बीच अपने धर्मपालन के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति या मोक्ष की राह दिखाता है। यह इहलोक से परलोक को मिलाने वाला, सीमित मानव जीवन को असीम तथा पूर्ण परमात्मा से परिचित कराने वाला तथा मनुष्य के भौतिक, बौद्धिक, शारीरिक एवं नैतिक प्रगति का पथ प्रदर्शक है। इस अर्थ में पुरुषार्थ उन मानवीय गुणों का समन्वय है जो भौतिक सुख और आध्यात्मिक उन्नति के बीच, एक संतुलन की सृष्टि करता है। यह सृजनशीलता का वह मूल आधार है जिसकी सहायता से व्यक्ति भौतिक पदार्थों को ही नहीं बल्कि संतानों एवं सद्गुणों को भी जन्म देता है और अंत में इस चराचर विश्व की संकीर्ण परिधि से बाहर निकलकर अनंत शक्ति में अपने महामिलन के लिए उद्योगी होता है।

व्युत्पत्ति

पुरुषार्थ दो शब्दों से मिलकर बना है- 'पुरुष और अर्थ'। पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति है- 'पुरि शेते इति पुरुषार्थ'। अर्थात जो इस पुर में शरीर में सोया हो उस चेतन्यांश आत्मा को पुरुष कहते हैं। इसे इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं दर्शन और चेतना के नाथ को पुरुष कहते हैं। आत्मा का यह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव तीनों दोषों से रहित असाधारण लक्षण है।

1. अव्याप्ति

पदार्थ का वह लक्षण जो किसी-किसी लक्ष्य में तो पाया जाए और किसी-किसी लक्ष्य में नहीं पाया जाए अव्याप्ति कहा जाता है।

2. अतिव्याप्ति

जब चेतना का लक्षण रागादि सहित कहा जाए तो इनमें अव्याप्ति दूषण का प्रादुर्भाव होगा, क्योंकि रागादि लक्षण समस्त संसारी जीवों में पाये जाते हैं, परन्तु सिद्ध जीवों में नहीं। इस प्रकार जो लक्षण लक्ष्य जीवों में भी पाया जाए, उसे अतिव्याप्ति कहते हैं। उक्त लक्षण इस अतिव्याप्ति दूषण से भी रहित है। चेतना लक्षण जीव पदार्थ को छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थ में संघटित नहीं होता परन्तु यदि आत्मा का लक्षण 'अमूर्तिक' कहा जाए तो अतिव्याप्ति दूषण आ घेरता है क्योंकि आत्मा का 'अमूर्तिक' गुण धर्म, अधर्म, काल द्रव्यों में भी पाया जाता है।

3. असम्भव

जो लक्षण प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रमाणों से लक्ष्यमात्र में अनुपस्थित रहता है उसे असम्भव कहते हैं। आत्मा का चेतन लक्षण इस दूषण से भी रहित है क्योंकि यह लक्षण जीव में परोक्ष एवं प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया हुआ है, परन्तु आत्मा का लक्षण यदि जड़ सहित कहा जाए तो असंभव दोष का आगमन होता है, क्योंकि यह लक्षण प्रत्यक्ष प्रमाण से वाधित है। इस प्रकार आत्मा का चेतना लक्षण तीन दोषों (अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव) से रहित है।

हम जानते हैं कि चेतना दो प्रकार की होती है-

1. ज्ञान चेतना- जो चेतना पदार्थों को विशेषता से साकार रूप प्रदर्शित करे उसे ज्ञान चेतना कहते हैं।

2. दर्शन चेतना- जो चेतना सामान्य रूप से निराकार रूप प्रदर्शित करे उसे दर्शन चेतना कहते हैं।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि चेतना के अनेक स्वांग होते हैं, परन्तु चेतना का अभाव कहीं भी नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि इसी चेतन लक्षण से विराजमान जीव संज्ञक पदार्थ का नाम ही पुरुष है।

अर्थ की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार है- 'यतः सर्वप्रयोजन सिद्धिः स अर्थः' अर्थात जिसके द्वारा समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं उसे अर्थ कहते हैं। अर्थ मनुष्य के भोग, आरोग्य और धर्म का मुख्य साधन है। अर्थ का तात्पर्य अभिलक्षित वस्तु से भी लगाया जाता है। अतः कहा गया है 'अध्यति प्राप्यर्थे सर्वेः इति अर्थः' अर्थात जिसे प्राप्त करने की अभिलाषा सब करते हैं, उसे अर्थ कहते हैं।

इस प्रकार पुरुष और अर्थ इन दो शब्दों के संयोग से बने पुरुषार्थ की व्युत्पत्ति स्पष्ट हो जाती है। फलतः 'पुरुषाणां अर्थः पुरुषार्थः' अथवा 'पुरुषेः अध्यति इति पुरुषार्थः' अर्थात मनुष्य जिस फल की इच्छा करे उसे पुरुषार्थ कहते हैं। इस प्रकार पुरुषार्थ शब्द बहुव्यापक अर्थ धारण करता है क्योंकि यह कोई निश्चित दिशा-निर्देश नहीं करता। पुरुषार्थ किसे माना जाए यह निर्णय करना विवेक का काम है। यह कर्तव्य विशेष का बोध कराकर मौन हो जाता है। अब यह विवेक के निर्णय पर आधारित होता है कि देश, काल और पात्र के अनुसार युगानुरूप या स्थिति तथा अवस्था के अनुरूप पुरुषार्थ का कैसा स्वरूप होना चाहिए। महाभारत तो किसी भी आधार को, कर्तव्य कर्म को शाश्वत रूप में स्थिर नहीं मानता। वह यह निर्णय देता है कि सर्वमान्य आधार कोई भी नहीं है। एक को स्वीकार करें तो दूसरा उससे उत्तम मिल जाता है। अथवा एक को स्वीकार करने पर दूसरा उसका विरोधी दृष्टिगोचर होता है। युगमान के अनुसार धर्म में भी परिवर्तन लक्षित होता है। इसलिए यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि यही पुरुषार्थ है इसकी सिद्धि नहीं हो पाती। यह एक विचित्र बात है कि किसी विषय की, किसी द्रव्य अथवा वस्तु के अस्तित्व की विकल्पनात्मक सिद्धि तो होती है किन्तु उसके न तो आदि की सिद्धि होती है और न अन्त की ही, तो मध्य की सिद्धि कैसे होगी? ठीक यही स्थिति पुरुषार्थ की भी है। अधिष्ठान अर्थात वह आधार या केन्द्र जिस पर हम कार्य करते हैं, कर्त्ता, करण, चेष्टा,

ईश्वर और तप इन पाँच घटक तत्वों के योग से ही हम कार्य करते हैं। इनमें चार घटक तो हमारे अधीन हैं, परन्तु पांचवां अलग से आता है जो विश्व का मूल तत्व है।

पांचों घटक तत्वों के योग से और मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता से अर्थात योग और तपयुक्त होकर देश, काल, पात्रानुसार अभ्युदय श्रेय और सिद्धि को ध्यान में रखकर विवेकपूर्ण जो कार्य किया जाए वही पुरुषार्थ है।

सांख्य सूत्र में तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को ही पुरुष का पुरुषार्थ माना गया है।

'अथ त्रिविधदुःखात्यत्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थ'

ये विविध दुःख हैं दैहिक, दैविक और भौतिक। अतः स्पष्ट है कि पुरुषार्थ की पुरुषार्थकता इसी में है कि संसार के बंधन अर्थात तीनों दुःखों से मुक्त हो जाएं। अतः प्रत्येक पुरुष को अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित करके उसे सफल करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। उसकी सफलता हेतु प्रत्येक स्त्री-पुरुष को शास्त्र विधि के अनुसार अपने-अपने कर्तव्यों का यथोचित पालन करना चाहिए। स्वकर्तव्य पालन से ही पुरुष का अंतःकरण विशुद्ध होता है, उसी से भगवान को प्रसन्नता होती है। भगवान के प्रसन्न होने पर उसका अनुग्रह पुरुष को प्राप्त होता है। फलतः वह सर्वविध दुःखों से मुक्त होता है। समस्त संसार भगवान का ही विराट रूप है। वह सभी प्राणियों एवं वस्तुओं में विद्यमान है। अतः प्रत्येक मनुष्य को सभी प्राणियों के प्रति शुद्ध कर्तव्य का आचरण करके अपने सद्व्यवहार से परमात्मा को प्रसन्न करना चाहिए। मानव जन्म पाकर दुष्कीर्ति, दुराचार और लोकोपवाद आदि दोषों से बचना चाहिए। जैसा कि आचार्य सोमदेव सूरी ने कहा है-

'स महाभागो यस्य न दुरपवादोपहतं जन्म'।

अतः विवेकी पुरुषों को इस अतीव दुर्लभ मनुष्य के जीवन के मुख्य उद्देश्य को ध्यान में रखकर उसके अनुकूल धर्म, अर्थ एवं काम (त्रिवर्ग) का उपार्जन करना चाहिए। इसी में मानव जीवन का कल्याण निहित है। महर्षि वशिष्ठ ने कहा भी है-

'बुद्धवैव पौरुषफलं पुरुषत्वमेतद्।
आत्म प्रयत्न परतैव सदैव कार्या।
नेया ततः सफलता परमामथासौ।
सच्छास्त्र सायुजन पण्डित सेवनेन।।'

अर्थात बुद्धिमान पुरुष का पुरुषत्व ही उसका पौरुष है। यह पुरुषत्व आत्मा के द्वारा प्रयत्न करके प्राप्त करना चाहिए। प्रयत्न पूर्वक कार्य करने पर सफलता प्राप्त होती है। पुरुष को सदैव शास्त्रों, सज्जन पुरुषों एवं विद्वानों की संगति करनी चाहिए। यही अपने आप में पुरुषार्थ है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि मानव जीवन में भोग और कामना ही बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं। बल्कि संयम, नियम, आदर्श और आध्यात्मिक भावनाएं भी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। संकीर्णता और बाध्यता, स्वार्थ और लिप्सा, कामना और वासना का जीवन आदर्श जीवन नहीं है और न भौतिक सुख और समृद्धि ही आदर्श जीवन है। सांसारिक ममता, मान-मर्यादा आदि मानव को सन्मार्ग का दिग्दर्शन न कराकर दिग्भ्रमित ही करती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का संयमित और नियमित आचरण एवं आध्यात्मिक विचार ही यथोचित निर्णय प्रदान करने में समर्थ होता है। अतः मनुष्य के जीवन का लक्ष्य भौतिक सुख न होकर आध्यात्मिक सुख ही होना चाहिए तथा उसकी कार्य पद्धतियाँ विलासपरक न होकर धर्मगत होनी चाहिए। यद्यपि चार्वाक जैसे प्रभृत दार्शनिकों के अनुसार ''काम ही एक पुरुषार्थ है।'' अर्थात् मानव जीवन में शारीरिक आवश्यकताओं एवं भोग के आकर्षण का ही सुख प्रदान होता है। किंतु ऐसी भोगपरक वृत्तियाँ सदैव क्षणिक होती हैं। इसके विपरीत आध्यात्मिक वृत्तियाँ

मनुष्य को सात्विक और निःस्वार्थ जीवन जीने के लिए प्रेरित करती हैं और उसे ऐसे जीवन जीने का अविच्छिन्न अर्थ बतलाती हैं जिसमें सांसारिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता भी है, भोग के साथ-साथ योग भी है तथा कामना के साथ-साथ साधना भी है। अतः भारतीय जीवन दर्शन इन दोनों प्रवृत्तियों का सम्मिलित और समन्वित स्वरूप है जिसे पुरुषार्थ कहते हैं। पुरुषार्थ के अंतर्गत मनुष्य लौकिक उपभोग के साथ-साथ धर्म का अनुसरण करते हुए ईश्वरोन्मुख होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

पुरुषार्थ की अवधारणा एवं स्वरूप

पुरुषार्थ हिंदू नीति शास्त्र का मौलिक सिद्धांत है। मानव जीवन का सर्वांगीण विकास उसके पुरुषार्थ पर ही निर्भर रहता है। यह मनुष्य का वह आधार है, जिसके माध्यम से वह अपना जीवन जीता है तथा विभिन्न कर्तव्यों का मनोनिवेशपूर्वक पालन करता है। पुरुषार्थ द्वारा ही मनुष्य, बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक, भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष करता है। इस प्रकार मनुष्य लौकिक जीवन के प्रति जागरूक होते हुए पारलौकिक जीवन के प्रति भी उत्कंठित रहता है। हिंदू धर्म में पुरुषार्थ चतुष्टय के अंतर्गत चार प्रकार के तत्व-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष माने गए हैं जिसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं। मोक्ष मानव जीवन के चरम उद्देश्य एवं मानव की आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति का प्रतीक है। अर्थ मनुष्य में वस्तुओं को प्राप्त करने व संग्रह करने की जो सहज प्रवृत्ति होती है उसकी ओर इंगित करता है। काम मानव के सहज स्वभाव व भावुक जीवन को व्यक्त करता है। तथा उसकी कामवासना और सौंदर्यप्रियता की प्रवृत्ति की तुष्टि करता है। अर्थ और काम ये दोनों संसार में मनुष्य के सांसारिक लगाव, कार्यकलाप एवं जीवन की सफलता का प्रतिनिधित्व करते हैं। धर्म मानव की पाशविक और दैवीय प्रवृत्ति के बीच की श्रृंखला है। अतः स्पष्ट है कि अर्थ की स्पष्ट प्रवृत्ति में संचालित होकर मनुष्य संसारी वस्तुओं का उत्पादन करता है जिससे उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। साथ ही काम की सहज प्रवृत्ति उसे इन्द्रियजन्य सुख प्राप्ति हेतु प्रेरित करती रहती है। फलतः विवाह, रति-क्रिया, शरीर संभोग तथा संतानोत्पत्ति संभव होती है। यही काम मनुष्य में सौंदर्यप्रियता की प्रवृत्ति को भी जागृत करता है जिससे वह न केवल शारीरिक सौंदर्य का ही वरन प्राकृतिक और ईश्वरीय सौंदर्य का भी उपभोग कर सकता है, परन्तु अर्थ और काम के जाल में फंसकर मनुष्य कहीं भटक न जाए, इस उद्देश्य से उसे जीवन के उच्चतर आदर्शों तथा नैतिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक रहने की आवश्यकता भी प्रतीत होती है। इन्हीं उच्चतर आदर्शों, नैतिक कर्तव्यों के समन्वित रूप को ही भारतीय चिंतकों ने धर्म कहा है। अतः धर्म वह कड़ी है जो मानव जीवन के सांसारिक पक्ष को आध्यात्मिक पक्ष के साथ संयुक्त करती है जिससे एक स्तर पर मनुष्य सभी कर्मों से तृप्ति तथा इच्छाओं का नाश करके जीवन मुक्ति की अवस्था में पहुंच जाता है और महाशक्ति से उसका महामिलन हो जाता है। यही स्थिति मोक्ष है। यही पुरुषार्थ की अवधारणा का आधार है।

इस प्रकार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानव जीवन के इन चार उद्देश्यों एवं आधारों के समन्वित स्वरूप को कहते हैं। इनमें जीवन के अन्तिम उद्देश्य के रूप में मोक्ष को मान्यता दी गई है। पर जीवन के अन्य वास्तविक पक्षों धर्म, अर्थ तथा काम की भी उपेक्षा नहीं की गई है और साथ ही उन पर नियंत्रण रखा गया है। इस रूप में पुरुषार्थ मानव जीवन के एक सम्पूर्ण व सार्थक स्वरूप का द्योतक है।

पुरुषार्थ की इस अवधारणा को विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'गीतांजलि' में निम्न रूपों में स्पष्ट किया है-

"वैराग्य साधन से जिस मुक्ति की प्राप्ति होती है वह हमारे लिए नहीं है।

अनुराग के हजारों बंधनों में ही मुझे मुक्ति का आनंद अनुभव होता है।

मैं अपनी दुनिया के असंख्य दीपों को तेरी ज्वाला से जला लूँगा और तेरे मन्दिर की यज्ञ वेदी पर रख दूँगा।

नहीं, मैं अपनी इन्द्रियों को घोर संयम के सीखंजों में बंद नहीं करूंगा।

मेरे दर्शन, श्रवण और स्पर्श से तेरा आनंद भरा होगा।

मेरे सब भ्रम आनंद यज्ञ की समिधा बनकर प्रकाशित होंगे और

मेरी सब वासनाएं प्रेमफल के रूप में परिपक्व होंगी।"

डॉक्टर लल्लन जी गोपाल ने पुरुषार्थ के चारों तत्वों को इस प्रकार समझाया है- धर्म के अर्थ, कर्तव्य, सत्कार्य एवं गुण होते हैं। अर्थात जिससे लौकिक उन्नति एवं पारलौकिक कल्याण की सिद्धि हो, वही धर्म है। अर्थ, शब्द, धन, सम्पत्ति अथवा मुद्रा का पर्यायवाची नहीं है। वरन यह भौतिक सुखों की समस्त आवश्यकताओं एवं साधनों का द्योतक है। अर्थ मनुष्य की शक्ति और ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा के लिए प्रयुक्त हुआ है। काम इन्द्रियों के बाह्य विषयों के सम्पर्क से जनित सुख को कहते हैं। मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा के सर्वोच्च विकास, अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष की प्राप्ति सभी लोगों को नहीं हो पाती, इसीलिए 'त्रिवर्ग' की संयोजना की गई है। मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा से तथा मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन से है। जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। किंतु मोक्ष प्राप्ति उतनी सरल और सहज नहीं। मोक्ष प्राप्ति हेतु मन और मस्तिष्क की शुद्धि और पवित्रता अनिवार्य मानी गई है। प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर चलने का निर्देश दिया गया है। मनुष्य अपनी विभिन्न प्रकृति के अनुसार सांसारिक जीवन में प्रवृत्त रहता है। जब वह अपने सत्कर्मों और सद्व्यवहारों से त्याग का मार्ग अपनाता है तब वह निवृत्त हो जाता है। इस निवृत्ति द्वारा ही वह आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। फलतः वह प्रवृत्ति और निवृत्ति में समन्वय स्थापित करता है जिससे मोक्ष के निकट पहुँचता है। इस प्रकार वह अपने इस संयम, नियम तथा ज्ञान और विवेक से अध्यात्मपरक बनकर चारों पुरुषार्थों के अंतर, महत्व और गरिमा को समझने लगता है। पुरुषार्थ सम्बन्धी उसका यह ज्ञान और विवेक उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है तथा समाज को जीवन्त बनाने में सहायक सिद्ध होता है। इस दृष्टि से पुरुषार्थ मानव के समग्र स्वरूप का उन्नयन करता है तथा उसे संयमित और नियमित मार्ग का दिग्दर्शन कराता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से समन्वित पुरुषार्थ मानव जीवन को गरिमामंडित बनाता है और उसके निवृत्तिमूलक व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरुषार्थ की अवधारणा हिंदू धर्म की सर्वमान्य अवधारणा है। इसी के आधार पर जगत की सोद्देश्यता, ब्रह्माण्ड की व्यवस्था, मानव जीवन के लक्ष्य एवं आदर्श आदि की व्याख्या एवं स्थापना की जाती है। पुरुषार्थ की साधना में ही मानव का गौरव निहित है। इस चराचर सृष्टि में जहाँ अन्य प्राणी सृष्टि चक्र अथवा संसार चक्र में अपने कर्मभोग मात्र से नियंत्रित हैं, वहाँ मानव कर्म भोग के साथ-साथ स्वतंत्र संकल्प वाला भी है क्योंकि पुरुषार्थ की सार्थकता उसके संकल्प स्वातंत्र्य पर निर्भर है। इस प्रकार हिंदू धर्म में पुरुषार्थ के अंतर्गत धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार तत्वों का विवेचन किया गया है।

पुरुषार्थ में प्रवृत्ति

पुरुषार्थ में मनुष्य की प्रवृत्ति सुख के लिए होती

है। सुख दो प्रकार का होता है-

1. विषयानन्द

2. ब्रह्मानंद

विषयानन्द- मानव शरीर में स्थित ज्ञानेन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होने से जो सुख प्राप्त होता है उसे विषयानन्द अथवा विषय सुख कहते हैं।

ब्रह्मानन्द- विषयानन्द सुख से ऊबकर "मैं यह शरीर नहीं हूँ, प्रत्युत इन देह इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त आत्मा हूँ' ऐसा दृढ़ निश्चय होकर सांसारिक विषय वासनाओं से रहित होकर अपने वास्तविक शुद्ध आत्मा में, अर्थात स्व-स्वरूप में पुरुष की जो स्थिति है उसे ब्रह्मानन्द अथवा आत्म सुख कहते हैं।

उपरोक्त दृष्टियों से यह स्पष्ट है कि मानव के मुख्य इच्छित फल केवल दो ही हैं। 1. काम, 2. अर्थ। इन दो पुरुषार्थों अर्थात इच्छित फलों के दो साधन हैं। धर्म और मोक्ष। अतः इन उपेय और उपाय रूप अर्थात दो साध्य और दो साधन रूप जोड़ों को मिला देने से पुरुष के चार अभिलक्षित फल होते हैं। इनमें से अर्थ का अभिप्राय है- 'धन' जिसकी व्युत्पत्ति होती है "दधन्ति फलति इति धनम्" अर्थात फलने वाली वस्तु यानी धन-धान्य आदि जीवन व्यवहारोपयोगी समस्त भोग वस्तुओं के विनिमय का साधन सुपरिष्कृत काम एवं सुख पूर्ति धन के अभाव में असंभव है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सुसंस्कृत विषय-सुख का साधन धन यानी अर्थ है। धर्म के अभाव में किसी भी सभ्य व्यक्ति का धन स्थिर नहीं रह सकता। फलतः कामरूप पुरुषार्थ के तीन अंग हिंदू धर्म में प्राचीन समय में स्वीकार किया गया है वे हैं- धर्म, अर्थ और काम। इसमें सर्वाधिक बल धर्म पर ही दिया गया है। उससे कम अर्थ पर और सबसे कम काम पर क्योंकि काम की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभावतः उत्पन्न हो जाती है। काम से कुछ कम अर्थ तथा उससे भी कम अर्थात सबसे कम अर्थ की और मानव की स्वभावतः प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार इस त्रिवर्ग अर्थात धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि का नाम है अभ्युदय। इसके अतिरिक्त जो चौथा पुरुषार्थ जिसे मोक्ष शब्द से सम्बोधित करते हैं कि सिद्धि का नाम निःश्रेयस है। त्रिवर्ग में वैषयिक सुखोपभोग को काम कहते हैं। काम दो प्रकार के होते हैं-

1. दिव्य 2. अदिव्य

दिव्य को सर्वांगीय सुख और अदिव्य को भूलोक का सुख भी कहते हैं। ये दोनों ही प्रकार के काम सुख उपेय अर्थात साध्य हैं। धर्म और अर्थ इनके साधन हैं। अतः साध्य और साधन रूप अर्थात काम (साध्य) और धर्म एवं अर्थ (साधना रूप) को मिलाकर तीन प्रकार के पुरुषार्थ होते हैं। इन्हें ही हिंदू धर्म में 'त्रिवर्ग' के नाम से जाना जाता है। यही त्रिवर्ग 'मोक्ष' को जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ बनाता है जिसे परम पुरुषार्थ भी कहते हैं।

इस चतुर्वर्ग को ही चार पुरुषार्थ कहा गया है। ये चारों ही मानव जीवन के मुख्य उद्देश्य हैं। इनमें से कुछ मनुष्य तो अर्थ को चाहते हैं, कुछ काम प्रधान होते हैं तो कुछ धर्म को ही चाहते हैं क्योंकि धर्म प्राप्त होने से अर्थ एवं काम स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम तीनों को चाहते हैं। इस प्रकार लौकिक एवं अलौकिक जितने भी सुख हैं सभी त्रिवर्ग द्वारा प्राप्त हो जाता है। समस्त सुखों अर्थात त्रिवर्ग की प्राप्ति होने से चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात मोक्ष स्वभावतः ही प्राप्त हो जाता है।

पुरुषार्थ की चार विधाएँ-

पुरुषार्थ को प्राप्त करने वाली विधाओं के सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य ने कहा है- 'अन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या' अर्थात अन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति में चार विधाएँ हैं।

अर्थात जिसके अर्थागम का मार्ग शुद्ध है और

व्यय भी शुद्ध है, यानी जो सत्कर्म से अर्थ का अर्जन करता है और सत्कार्य में उसका व्यय करता है, वही व्यक्ति अर्थ का योग्यतम पात्र है। इसके विपरीत जिसके अर्थागम का मार्ग पवित्र नहीं है और जिसका अर्थ असत्कार्य में व्यय होता है, वह व्यक्ति अर्थ का पात्र नहीं है। शुक्र नीति में तो यहाँ तक कहा गया है कि शासक को अपात्र के धन को हर लेना चाहिए- "अपात्रस्य धनं सर्व हरेद् राजा न दोषभाक्।" हम जानते हैं कि अर्थ के बिना लौकिक जीवन की वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्वों की पूर्ति नहीं की जा सकती। डॉ. लल्लन जी गोपाल के शब्दों में "अर्थ, शब्द, धन, सम्पत्ति या मुद्रा का पर्यायवाची नहीं है। यह भौतिक सुखों की सभी आवश्यकताओं और साधनों की ओर संकेत करता है। अर्थ मनुष्य की शक्ति तथा ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा के लिए प्रयुक्त हुआ है।" अतः स्पष्ट है कि अर्थ का तात्पर्य उन सभी पदार्थों तथा साधनों से है जिनकी सहायता से व्यक्ति जीवन यापन करता हुआ अपने विभिन्न दायित्वों को पूरा करता है। हिंदू धर्म में अर्थ को पुरुषार्थ का रूप देकर व्यक्ति को उद्योग करने का प्रोत्साहन दिया गया है। अर्थ के बिना मनुष्य कोई भी धार्मिक कृत्य नहीं कर सकता। विभिन्न प्रकार के यज्ञों की पूर्ति, दान, अतिथियों की सेवा और परिवार का पालन-पोषण करने के लिए उसे धन की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। इसी आधार पर महाभारत और स्मृतियों में यहाँ तक उल्लेख है कि गृहस्थ आश्रम में अर्थ के पुरुषार्थ को बिना पूरा किए वानप्रस्थ अथवा संन्यास ग्रहण कर लेने वाले व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार मनुष्य को लौकिक जीवन यापन करने के लिए अर्थ की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है। फलतः अर्थ को लौकिक पुरुषार्थ के अंतर्गत स्थान दिया गया है। पं. दीनदयाल उपाध्याय ने आज की परिभाषा में अर्थ के अन्तर्गत राजनीति और अर्थनीति को भी स्वीकार किया है।

धर्म

धर्म कर्तव्यों की श्रृंखला है जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन को सामाजिक जीवन और इस लोक को परलोक से जोड़ता है। इसके द्वारा एक ओर सामाजिक व्यवस्था बनती, विकसित और दृढ़ होती है और दूसरी ओर यह विश्व ब्रह्मांड की व्यवस्था में सहायक होती है। धर्म को पारलौकिक पुरुषार्थ के अंतर्गत इसीलिए रखा गया है कि धर्म ही मनुष्य को लौकिक जीवन से पारलौकिक जीवन की राह दिखाने वाला तत्व है। पुरुषार्थ के रूप में धर्म का तात्पर्य उन सभी कर्तव्यों से है जो लोकहितकारी हैं तथा जिसके द्वारा व्यक्ति को इस जीवन तथा पारलौकिक जीवन में अभ्युदय की प्राप्ति होती है। पुरुषार्थ के अंतर्गत धर्म का तात्पर्य भाग्य अथवा विश्वास से नहीं है वरन यह एक वैज्ञानिक तथ्य है जिसकी उपयोगिता किसी भी समय समझी जा सकती है।

वैशेषिक दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद् ने धर्म को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

"यतोऽभ्युदय निःश्रेयत सिद्धिः स धर्मः"।

अर्थात जिससे इहलोक में उन्नति और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है। धर्म से सुख की प्राप्ति होती है। सुख भी इहलौकिक एवं पारलौकिक दो प्रकार का होता है। इस तथ्य द्वारा यह शंका उत्पन्न होती है कि धर्म लौकिक और पारलौकिक दोनों पुरुषार्थों की श्रेणी में आता है। परन्तु यह शंका निर्मूल है क्योंकि इलहोक में सुख धर्म द्वारा नहीं होता। वरन अर्थ और काम जो इहलोक में सुख के मुख्य साधन हैं, का धार्मिक आधार पर संचय एवं उपयोग तथा उपभोग ही सुख प्राप्ति का साधन है। इस प्रकार धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है। धर्म से अर्थ की सिद्धि होती है। यदि व्यापार भी करना हो तो मनुष्य को ईमानदारी, संयम, त्याग, तपस्या, अक्रोध, क्षमा, धृति, सत्य आदि धर्म के लक्षणों का निर्वाह करना चाहिए।

साधन के रूप में तो इन गुणों को मानना पड़ेगा। इस सन्दर्भ में जहाँ पाश्चात्य जीवन दृष्टि में मान्यता है- 'Honesty is the best policy' वहीं भारतीय जीवन दृष्टि में महत्व दिया जाता है 'Honesty is not a policy but a principle', अर्थात धर्म में हमारा विश्वास उसके साधन के रूप में नहीं है बल्कि इसे हम स्वयंभू मानते हैं। इसीलिए हमने राज्य का आधार भी धर्म को माना है। केवल दण्डनीति से राज्य संचारित नहीं हो सकता। समाज में धर्म से तो काम टिक नहीं सकता।

धर्म केवल अर्थ एवं काम के उचित और अनुचित प्रयोग हेतु ही इहलोक में उपयोगी है। धर्म के समस्त क्रियाकलाप जैसे यज्ञ, दान, तप, क्षमा, विद्या आदि इहलोक में सुख तो लेते हैं परन्तु परलोक में यही साथ रहते हैं। सारी धन, सम्पत्ति, भाई, भतीजा तथा अन्य कुटुम्बी यहीं रह जाते हैं। जो व्यक्ति अर्थ का खूब संचय कर लिया है, काम में अत्यधिक प्रवृत्ति है, उसे इस लोक में तो सुख है परन्तु परलोक में वह नरक में ही जाता है। अतः काम का उपभोग भी धार्मिक आधार पर करना चाहिए। इस प्रकार भी यह बात सिद्ध होती है कि धर्म पारलौकिक जीवन के लिए ही सब कुछ करता है। इस प्रकार इस शंका का कि धर्म लौकिक और पारलौकिक दोनों पुरुषार्थ, समाधान हो जाता है। अतः निर्विवाद रूप से धर्म को पारलौकिक पुरुषार्थ के अंतर्गत रखा गया है। एक सूक्ति है 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनभू' अर्थात शरीर धर्म का प्रथम साधन है। भारतीय जीवन दृष्टि में शरीर को धर्म का साधन माना है जबकि पाश्चात्य दृष्टि इसे साध्य मानती है।

इसके अतिरिक्त मोक्ष के जितने भी साधन (चर्या, क्रिया, ज्ञान, भक्ति) तथा मार्ग (ज्ञान भक्ति, कर्म) आदि हैं। सब धर्म पर ही आधारित हैं। इसीलिए मानव जीवन की सफलता, सार्थकता और शोभा धर्म के आचरण से ही होती है। तपस्या और धर्माचरण से ही सत्वगुणों का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। धर्म ही प्राणियों को परलोक में सुख पहुंचाने का एकमात्र साधन है।

अर्थ

मानव जीवन का उद्देश्य चावार्क के शब्दों में 'यावज्जीवेत सुखम् जीवेत' है। यह बात अक्षरशः सत्य है। मनुष्य संसार में सुखपूर्वक जीवन-यापन करना चाहता है। उसे सुखपूर्वक जीवन-यापन करने हेतु प्रमुख आवश्यकताओं में रोटी, कपड़ा और मकान है जिसकी पूर्ति उसे अर्थ से ही हो सकती है। अर्थ के अतिरिक्त कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिससे वह इन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

मनुष्य को सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए अर्थ महत्वपूर्ण है। परन्तु अर्थ मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन होने मात्र से ही पुरुषार्थ नहीं है। पुरुषार्थ होने के लिए उसे धर्म नियंत्रित होना पड़ता है। धर्मशास्त्रों ने जहाँ एक ओर अर्थ के अर्जन, रक्षण, परिवर्धन की स्वतंत्रता दी है वहीं दूसरी तरफ उनकी वृत्तियों पर नियंत्रण, धार्मिक एवं लोकहित कार्यों की करणीयता के द्वारा इस धन के निस्सीम संचय, स्वेच्छाचारी भोग तथा अपव्यय पर भी अंकुश लगाया है। महर्षि शुक्राचार्य ने अर्थ के पात्र और अपात्र का लक्षण बताते हुए कहा है- "स्वागमी सद्व्वयी पात्रं मपात्रं विपरीतकम्"।

काम

लौकिक जीवन में काम का अर्थ दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। प्रथम अर्थ व्यापक है और दूसरा अर्थ संक्षिप्त है। व्यापक अर्थ में काम का तात्पर्य उन सभी इच्छाओं से है जो इन्द्रियों की संतुष्टि से सम्बन्धित है और मनुष्य को भौतिक सुख की ओर प्रेरित करती है। संक्षिप्त अर्थ में काम का तात्पर्य केवल यौनिक प्रवृत्ति की संतुष्टि से है। मनुष्यों की सभी इन्द्रियों का मूल उनका मन है। इस प्रकार मन की संतुष्टि करना ही काम का वास्तविक आधार है। धर्म और अर्थ की अपेक्षा काम अधिक व्यामोहक है। क्योंकि वह चारों पुरुषार्थों में सर्वाधिक प्रिय प्रतीत होता है। यही वह पुरुषार्थ है जो दो अनजाने प्राणियों को संसार सिंधु में एक साथ चलने के लिए बाध्य करता है। यही वह पुरुषार्थ है जो इस मानव योनि को निरन्तर क्रमबद्ध करता है। यदि मानव के अंदर से काम की प्रवृत्ति पूर्णतः समाप्त हो जाए तो इस चराचर जगत से मानव योनि सर्वदा के लिए समाप्त हो जाएगी। इसीलिए काम इन्द्रियाँ सुख या इच्छा की पूर्ति मात्र रहकर पुरुषार्थ नहीं बनता। यह परिष्कृत होकर दाम्पत्य जीवन, परिवार आदि संस्थाओं की व्यवस्था करता है तथा कला, सौंदर्य, विभूति आदि कोमल भावों को विकसित एवं दृढ़ कर पुरुषार्थ का रूप ग्रहण करता है।

जीवन का मूल लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति है। यह कार्य स्वस्थ शरीर के बिना नहीं हो सकता। काम के बिना प्राण का धारण ही नहीं हो सकता। जीवन निर्वाह में काम अत्यन्त उपयोगी है परन्तु धर्म विरुद्ध काम, मोक्ष में सहायक नहीं होता। नियंत्रित काम औषधि का काम करती है और अनियंत्रित काम विष के समान भयंकर भी होता है। इसीलिए महर्षि शुक्राचार्य ने कहा है-

"न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यति लालयेत्।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि जो व्यक्ति विषय सुख के रूप में काम को स्पष्ट करते हैं वे वास्तव में पुरुषार्थ के गलत रूप को समझते हैं। काम के वास्तविक रूप केवल तीन ही हैं। 1. दाम्पत्य बंधन के रूप में, 2. आध्यात्मिक, 3. कलात्मक एवं सौंदर्य। इस प्रकार पुरुषार्थ के रूप में काम का स्थान मनोवैज्ञानिक, धार्मिक तथा सामाजिक तीनों दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। इसीलिए काम को भी पुरुषार्थ के अंतर्गत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यह पारलौकिक जीवन में उसके साथ नहीं रहता इसीलिए काम को लौकिक पुरुषार्थ के अंतर्गत रखा गया है।

मोक्ष

मोक्ष समस्त पुरुषार्थों का साध्य है। धर्म, अर्थ और काम इसके साधन हैं। यह निश्चित है कि मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो जाने पर इस विश्व के आवागमन से वह छुटकारा पा जाता है क्योंकि तीनों प्रकार के दुःखों आधिदैहिक, आधिदैविक और आधिभौतिक से छुटकारा मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करने पर मिल जाता है। मोक्ष प्राप्त व्यक्ति इहलोक में नहीं रहता। वह परलोक में रहता है। तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाने पर मनुष्य अखंड आनंद को प्राप्त करता है। यद्यपि हिंदू धर्म में जितने भी दार्शनिक हुए हैं सभी ने मोक्ष को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। तथापि लगभग सभी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मोक्ष प्राप्ति होने पर व्यक्ति को अखंड आनंद प्राप्त होता है। मोक्ष के बारे में श्रुति का कथन है कि-

"न मोक्षो नभलः पृष्ठे न पताले न भूतले।
सर्वाशासंक्षये चेतः क्षयो मोक्षः इति श्रुतिः।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि संसार के झूठे चक्र से छूट जाना और अपने स्वरूप को पहचान लेना ही मोक्ष है। यह न तो आकाश में है, न पाताल में है और न पृथ्वी पर ही है।

हिंदू धर्म में मोक्ष का महत्व बहुत अधिक है। हिंदू संस्कृति को आध्यात्मिक संस्कृति कहा जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि यहाँ भौतिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। मोक्ष का सम्बन्ध आध्यात्म से है। मोक्ष मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य है। इस प्रकार मोक्ष व्यक्ति को समस्त दुःखों से छुटकारा दिलाता है। परन्तु मोक्ष व्यक्ति को दुःखों से छुटकारा दिलाने मात्र से ही पुरुषार्थ नहीं है; वह व्यक्ति के जीवन में ऐहिकता को पारलौकिकता के साथ तथा भौतिकता को आध्यात्मिकता के साथ समन्वित कर मानव को उच्चतम मानव के रूप में विकसित होने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन एवं अवसर प्रदान कर पुरुषार्थ बनाता है। मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा के सर्वोच्च विकास एवं उसके सच्चे स्वरूप की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा जाता है। मोक्ष ही मानव का सर्वोत्कृष्ट अभीष्ट स्वार्थ है। उसी को पाकर मनुष्य कृतार्थ होता है। इसलिए कहा गया है-

"एतावानेन मनुजैर्योग नैपुणबुद्धिभिः।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत् परात्मैक दर्शनम्।"

अर्थात ऐसा व्यक्ति जिसने सर्वाभिष्ट फल मोक्ष को प्राप्त कर लिया है उसे योग्य, निपुणता, बुद्धि और स्वार्थ सब कुछ अपने में ही जान लेना चाहिए जो कि आत्मदर्शन के रूप में कहा गया है। मानव जीवन का यह सर्वांगपूर्ण विचार ऐसी किसी भी अर्थ-रचना की कल्पना नहीं कर सकता, जिसमें नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना किए बिना ही मनुष्य को सुखी बनाया जा सके। पं. दीनदयाल उपाध्याय ने शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की प्रगति से ही मानव प्रगति की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार- "जो विचारक हैं उनको लग रहा है कि उनकी जीवन पद्धति में कहीं न कहीं कोई मौलिक गलती अवश्य हुई है जिससे समृद्धि के बाद भी वे सुखी नहीं है। कारण यह है कि वे मनुष्य का पूर्व विचार नहीं कर पाए। हमारे यहाँ इस बात का पूरा विचार किया गया है इसलिए हमने कहा कि मानव की प्रगति का मतलब शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों की प्रगति से है।" भारतीय जीवन का मूल मंत्र पुरुषार्थ के आधार पर यदि समस्त मानव जगत अपने विकास कार्य की तरफ ध्यान दे तो 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा साकार होने में देर नहीं लगेगी।

ई-मेल- mcuread.sks@gmail.com
मो.- 9424412772